रत्नाकर शतक

—आन्तरप्रान्तीय योगदान की राष्ट्रीय निधि

समीक्षक : डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र

सोलहवीं शती के कन्नड़ कवि रत्नाकर वर्णी कृत 'रत्नाकराधीश्वर' अथवा 'रत्नाकर शतक' का अध्ययन तो दूर, परिचय प्राप्त करना मुझ जैसे हिन्दी भाषी प्राध्यापक के लिए दुस्तर ही था, यदि आचार्य देशभूषण जी जैसे संस्कृति-भाषा-विषयक समन्वयी चेतना वाले विद्वान् मनीषी इस रचना का सम्पादन और उसकी व्याख्या प्रस्तुत न करते। वास्तव में भारतीय भाषाओं के ग्रंथ रत्नों को हिन्दी भाषी अपार जन-समाज तक लाना राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य है। ऐसा करने से दो महत् सिद्ध होते हैं— १. साहित्यिक-सांस्कृतिक-दार्शनिक विरासत को अग्र-सारित करने का, और २. भाषा-क्षमता के आधार पर राष्ट्रीय एकता को सुगुंफित करते हुए जनमानस को संस्कारित करते जाने का। सभी प्रकार की समन्वित चेतना को प्रबुद्ध करने में भाषा का प्रमुख हाथ रहता है। भारत के सन्दर्भ में हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा शताब्दियों से राष्ट्रीय एकता की प्रतीक रही है; क्योंकि हिन्दी भाषा-क्षेत्र शताब्दियों से राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक वैचारिक दबावों को सहन करता आया है। इसी विस्तृत भूभाग में मौर्य, शुंग, गुप्त, मुगल, पठान आदि साम्राज्यों का उत्थान-पतन हुआ है; आक्रमण, युद्ध झेले हैं। प्रसिद्ध हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, इस्लाम, ईसाई तीर्थ-स्थल इसी प्रदेश में हैं। अतः यह क्षेत्र दीर्घकाल से जन-चेतना को आकर्षित करने का चुम्बकीय कार्य करता रहा है। परिणामतः इस क्षेत्र में संकीर्ण प्रान्तीयता नहीं पनप सकी है। इस क्षेत्र की जनभाषा होने के कारण ही हिन्दी में अद्भुत समन्वयकारी क्षमता अन्तर्निहित है। साथ ही, आध्यात्मिक चेतना के विकास में भी इस क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। काल क्रम में यह चेतना पहले संस्कृत, पुनः प्राकृत और अपभ्रंश में अभिव्यक्त होती हुई हिन्दी और उसकी उपभाषाओं में आई है। जनमानस तक पहुंचने में भाषा ही सबसे बड़ा माध्यम है। यह भाषा स्थानीय बोलियों से जीवनी-शक्ति लेती हुई उपभाषा, प्रान्तीय भाषा के सोपानों पर अग्रसर होकर सार्वदेशिक भाषा के रूप में स्वीकृति पाती है। अतः मातृभाषा, प्रदेश भाषा और देशभाषा यह एक स्थितिजन्य क्रम है। यह क्रम सर्वजनोन्मुखी होकर काल क्रम में आगे बढ़ता है। जनोन्मुखी होने का यह क्रम संस्कृत से प्राकृत में, प्राकृत से अपभ्रंश में आधुनिक भारतीय भाषाओं में देखने को मिलता है। एक विद्वान् का अभिमत है कि भारत ऐसा सांस्कृतिक देश है, जिसकी जड़ अध्यात्म है। यह अध्यात्म हमारी संस्कृति के उस वृक्ष की भांति है जो समूचे राष्ट्र को अपनी मूलवत्ता एवं सघन छाया में परिवेष्ठित किए हुए है। वृक्ष के अंग-प्रत्यंग की विभिन्नता के बावजूद राष्ट्रीय अखंडता एवं उसकी समन्वित सत्ता का सारा दायित्व संस्कृति की पीठिका पर निर्भर है। संस्कृति के इस गुरुतर दायित्व को क्षेत्रीय-प्रान्तीय भाषाओं के सहयोग से हिन्दी ही निभा सकती है, कोई विदेशी भाषा नहीं। वास्तव में हिंदी में चिन्तन-व्यवहार के जीवन्त तत्त्व युगों से संवाहित होते रहे हैं। हम देखते हैं कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के ये सोपान मनीषी ऋषि, जैन, बौद्ध चिन्तन को आधुनिक युग तक किस प्रकार उत्कर्ष प्रदान करते रहे हैं। मध्य देश की शौरसैनी अपभ्रंश तो आठवीं से तेरहवीं शती तक उत्तर भारत की साहित्यिक और सांस्कृतिक विनिमय की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही है। संस्कृत विद्वान् भी जनसमुदाय तक पहुंचने के लिए इसे आवश्यक मानते आये हैं। मागधी, महाराष्ट्री अपभ्रंश भी उसी विकास क्रम में आती हैं। हिन्दी उसी विकास क्रम के उत्तराधिकार से पुष्ट है।

आचार्य देशभूषण जी ने भाषा विकास क्रम एवं उसकी अमोघ क्षमता को भली प्रकार समझा है और अनुभव किया है कि आज के युग में अध्यात्म चिन्तन का ज्ञान और उसका सार जनसुलभ बनाने के लिए हिन्दी को माध्यम रूप में अपनाना अपेक्षित ही नहीं अपरिहार्य है। मुनि परम्परा के धर्मध्वज आचार्य श्री देशभूषण जी अनासक्त होते हुए भी लोककल्याण की भावना से प्रेरित हैं। उनकी मान्यता है कि आज लोकरुचि भोगाकांक्षी एवं द्रव्यदासी बनी हुई है। ऐसी मानसिकता के दबाव में व्यक्ति कैसे शाश्वत शान्ति, अमर जीवन और आनन्द-भाव की प्राप्ति या परिचय प्राप्त कर सकता है। ऐसी मानसिकता को शम-वाणी, यम-वाणी जैसी लगती है। किन्तु आचार्य देशभूषण जी ने ऐसे सामाजिक वातावरण में भी अपने अमृतमय संकल्प को न छोड़कर जीवन के पवित्र पक्ष—योग, ब्रह्मचर्य, तप, स्वाध्याय, निर्वैरता, त्याग एवं दिगम्बर चेतना को धारण करके, अहिंसा के प्रकाश को मन, वाणी और कर्म से फैलाते हुए समस्त भारत में पैदल बिहार करते हुए जीवन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यापन की महती साधना का अनवरत-अनथक व्रत सन्धान किया है, कर रहे हैं। आपके जीवन-संकल्पों में एक यह भी है कि भारत की अध्यात्म चेतना लोकमंगलकारी है, जिसका प्रचार-प्रसार आज जनहित में परमावश्यक है। अनन्तकाल से मनीषी रचनाकारों ने जो अमृतवाणी प्रदान की है, वह आज की वेदनामयी करुण परिस्थिति में क्लिष्ट और दुष्टबुद्धि का परिष्कार करने में, संवेदना-बुद्धि जागृत करने में सहायक हो सकती है। इस महत् कार्य सम्पादन में किसी भाषा विशेष का आग्रह न होने पर भी, संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के स्रोतों से जुड़ती हुई, अनेक ऋषि-मनीषी रचनाकारों के समान ही जैन रचनाकारों ने कनड़ी, तमिल, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, ब्रज आदि में अपनी चेतना की निर्मल गंगा प्रवाहित की है। इस विकल्प को—कि लोक भाषाओं या क्षेत्रीय भाषाओं में उच्च साहित्य-सृजन की क्षमता क्षीण है, आचार्य देशभूषण जी का निष्कर्ष है कि शताब्दियों से जैनाचार्यों ने गम्भीर विषयों पर लोकभाषाओं और प्रान्तीय भाषाओं में मौलिक और उच्चकोटि का साहित्य सृजन किया है। उदाहरण के लिए कन्नड़ भाषा के तो अधिकांश कवि प्रायः जैन विचारधारा के ही अनुयायी रहे हैं। पोन्ना, रन्न, रत्नाकर, अन्न, पम्प, नयसेन, नागचन्द्र, अग्गल, साल्व आदि रचनाकारों ने कन्नड़ साहित्य की श्री वृद्धि की है।

तपस्वी जीवन के अग्रेता आचार्य देशभूषण जी मुनि परम्परा के संवाहक होने के साथ ही मनीषी चिन्तक एवं प्रतिष्ठित साहित्यकार भी हैं। आपका संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, मराठी और हिन्दी भाषा पर अधिकार है। अपने जीवन के अधिकांश समय को आप शास्त्र-रचना में लगाते रहे हैं। आपके द्वारा रचित, अनूदित, सम्पादित लगभग ७० ग्रन्थ हैं। इनमें प्रमुख हैं—भूवलय, भावनासार, शास्त्रसार समुच्चय, रत्नाकर शतक (प्रथम-द्वितीय भाग), निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति, चौदह गुणस्थान चर्चा, धर्मामृतसार (प्रभाचन्द्राचार्यकृत, यह रचना हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं में उपलब्ध है), ध्यान सूत्राणि, अपराजितेश्वर शतक (प्रथम-द्वितीय भाग), श्रेष्ठ शलाकापुरुष, उपदेशसार संग्रह (१-६ भाग तक) निरंजन स्तुति, गुरु शिष्य प्रश्नोत्तरी, गुरु शिष्य संवाद, णमोकार मन्त्र कल्प, तत्त्वदर्शन, स्तोत्रसार संग्रह, भरतेश वैभव भाग १, (खण्ड १-२-३) भाग २, दश लक्षण धर्म, आत्मरस मंजरी, भक्ति स्तोत्र संग्रह (भाग १-२), प्रवचनसार (कनड़ी और मराठी अनुवाद), समयसार प्रवचन (अध्याय पांच तक मराठी में), भरतेश वैभव (गुजराती में), धर्मामृत (नयसेनाचार्य कृत, १-२) जय भगवद् गीता, त्रिकालदर्शी महापुरुष, भगवान् महावीर और उनका समय, भगवान महावीर और मानवता का विकास, तात्त्विक विचार, जैनधर्म का मर्म अहिंसा, योगामृत।

वास्तव में आचार्य देशभूषण जी ने अपना जीवन धर्म-दर्शन एवं साहित्य-संस्कृति को सहर्ष समर्पित किया हुआ है। और इस अर्थ में आपका साहित्यिक-ऐतिहासिक योगदान भी उल्लेखनीय है। आप प्राचीन भारतीय साहित्य के गम्भीर अध्येता रहे हैं। भारतीय साहित्य के चिन्तन तत्त्वों को, बहुमूल्य निष्कर्षों को जन-जन तक पहुंचाना आपने अपने जीवन का ध्येय बनाया है। सच तो यह है कि भविष्यद्रष्टा अनासक्त कर्मयोगी ने राष्ट्र की अमृतमयी एकान्वित चेतना को अग्रसारित करते हुए दक्षिण और उत्तर के रागात्मक सम्बन्धों को विकसित करने के लिए ही विभिन्न भारतीय भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तामिल, कन्नड़, बंगला और गुजराती आदि की भक्तिमयी चेतना को राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रस्तुत करने का महनीय कार्य सम्पादित किया है। आपकी सतत साहित्य-साधना के कारण ही अनेक मनीषी रचनाकारों की अज्ञात, अल्पज्ञात एवं महत्त्वपूर्ण रचनाएं हिन्दी में प्रकाशित हो सकी हैं। आप उन युगप्रमुख साहित्यसेवियों में हैं, जिन्होंने धर्म रक्षा एवं धर्म साहित्य के अभ्युदय को संस्कृति की धुरी माना है। इसलिए अपने तन-मन से जीवन में विहार करते हुए अध्यात्म चेतना का प्रसार एवं राष्ट्रीय चेतना को सम्बल प्रदान किया है। और ऐसा करने के लिए आपने भारत के विभिन्न प्रदेशों की बहुशः पद यात्रा तो की ही है अनेक प्रान्तीय भाषाओं को समझा-पढ़ा और दक्षता प्राप्त करके प्रदेशों की सरस्वती-सरिताओं को एक-दूसरे से जोड़ते हुए हिन्दी के माध्यम से आदान-प्रदान रूप पुल बनाया है, विच्छिन्न कवियों को जोड़ा है। ऐसा करते हुए आपकी वाणी की अमोघ शक्ति एक ओर तो ज्ञान-विवेक एवं शान्ति-आनन्द का अखण्ड द्वार अनावृत करती है, तो दूसरी ओर भारतीय चिन्तन पद्धति की सार्वभौम क्षमता व संस्कृति के अमृतसर में सात्त्विक चेतना को निमज्जित कराने में समर्थ है। आप विगत ५५-६० वर्षों से निरन्तर निर्ग्रन्थ भगीरथ बने रहकर दक्षिण की गंगा को उत्तर में लाते रहे हैं।

आचार्य देशभूषण जी ने रत्नाकर वर्णी कवि कृत 'रत्नाकर शतक' का सम्पादन एवं व्याख्या आदि की है जो अनुवाद कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रस्तुति है। अनुवाद कार्य में जहां अनुवादक अथवा टीकाकार का मुख्य लक्ष्य रहता है कि मूल में निहित सौन्दर्य-अर्थ की चेतना न केवल ध्वस्त न हो, अपितु, उसकी आत्मा बखूबी अभिव्यक्त हो, प्रभविष्णु बनकर रूपायित हो। इसके लिए अनुवादक को, व्याख्याकार को निरन्तर सावधान होकर केन्द्रोन्मुख बने रहना पड़ता है। यह कार्य वह तभी कर सकता है, जब वह अनुवाद-कला-व्याख्या सामर्थ्य से सम्पन्न हो और मूलकृति का रसास्वादन करके आत्मसात् कर सके। मूलभाषा में प्रवेश की दक्षता इस कार्य में उसको निरन्तर सहयोग देती है। ऐसा होने पर ही उसकी वाहिका भाषा मूलकृति की भांति ही चित्त रमाने में सक्षम हो पाती है। इस दृष्टि से जब हम आचार्य देशभूषण जी की भाषा-क्षमता एवं विषयाधिकार को देखते हैं तो पढ़ते ही अनुभव होने लगता है कि उन्हें मूल अर्थात् कन्नड़ एवं टीका-व्याख्या की भाषा अर्थात् हिन्दी दोनों की प्रकृति और उनके बोलने वालों के मुहावरे से पूर्ण परिचय है। एक उनकी मातृभाषा है तो दूसरी उनकी विचाराभिव्यक्ति की भाषा विगत लगभग पचास वर्षों से रही है। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि जब छन्दोबद्ध रचना की टीका या व्याख्या करनी होती है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह भी दार्शनिक पक्ष प्रधान रचना की, तब अनुवाद या टीका करने के नियमों को अधिक व्यापक बनाना पड़ता है। तब उद्देश्य रहता है कि मूल की गहराई में जाकर उसकी अर्थवत्ता को भाषा विशेष के पाठक तक सम्प्रेषित करना। और यह कार्य आचार्य श्री ने रत्नाकर शतक की व्याख्या में दायित्वपूर्वक निर्वाहित किया है।

समीक्ष्य पुस्तक 'रत्नाकर शतक' की टीका-व्याख्या और सम्पादन पर विचार करने से पहले मूल रचना के ग्रंथकार के बारे में परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। कवि ने अपने बारे में बहुत कम कहा है। अन्तःसाक्ष्य से कुछ संकेत मिलते हैं। अपने त्रिलोक शतक में 'मणिशेलंग तिड्.दुशाली' शतक का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने शतक त्रय की रचना शालिवाहन शक १४७६ (सन् १५५७) में की थी। रत्नाकर वर्णी कन्नड़ भाषा के मूर्धन्य साहित्यकारों में से हैं। आपका जन्म कर्णाटकीय भूभाग में तुलुदेश के मूडबिद्री में किसी सूर्यवंशी राजा देवराज के घर १६ वीं शती के मध्य में हुआ था। आपने अपने गुरु 'देवेन्द्रकीर्ति' का उल्लेख रत्नाकर शतक के १०८ वें श्लोक में किया है—'श्रीमद्देवेन्द्र-कीर्ति योगेश्वर पादांभोजभृंगायमान श्रृंगार कवि राजहंस विरचित रत्नाकर सपाद शतकसमाप्तम्।' कहीं-कहीं इनके गुरु का उल्लेख महेन्द्रकीर्ति भी मिलता है। आचार्य देशभूषण जी ने तर्कयुक्त प्रमाण देकर बताया है कि देवचन्द्रकृत 'राजा बलि की कथा' के अनुसार देवेन्द्र कीर्ति और महेन्द्र कीर्ति दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। इनके अन्य नामों का उल्लेख है—अण्ण, वर्णी, सिद्ध आदि।

रत्नाकर वर्णी अपने विषय के पारगामी विद्वान् थे। आपने अपनी किशोर वय में ही गोम्मटसार की केशववर्णी टीका, कुन्दकुन्दाचार्य के अध्यात्मिक ग्रन्थ, अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार नाटक, पद्मनन्दि कृत स्वरूप सम्बोधन, इष्टोपदेश आदि ग्रन्थों का अध्ययन-मनन कर लिया था। वास्तव में आचार्य और मुनि परम्परा की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इन्होंने अध्यात्म और सिद्धान्त को जीवन की व्यावहारिकता में साकार करने का प्रयत्न किया है। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ है कि इनकी अभिव्यक्ति से, आध्यात्मिक चेतना से जनमानस की रुचि सुसंस्कृत होती रही है। श्रृंगार के अश्लील पक्ष को कह-सुनाकर हठात् उनमें अध्यात्म चेतना का अर्थ भरकर कवि-कलाकार की हैसियत से सामाजिक की मानसिकता को विकृति से नहीं भरा है। इसलिए इनकी रचना का लक्ष्य उद्देश्यपूर्ण और सांसारिक आचरण की कोई-न-कोई गहन समस्या ही रहा है। इन तत्त्व मनीषियों की दृष्टि सत्य की चरम खोज करना है। जैन तत्त्व ज्ञान की एक विशेषता और भी रही है कि उसमें वर्णित सत्य साक्षात्कार की दार्शनिक दृष्टि में अनेकान्त अथवा स्याद्वादीय पक्ष भी प्रमुख रहा है, जो जीवन की व्यावहारिकता को पोषित करता है। जैन अध्यात्म में आत्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख की स्वीकृति है। फलस्वरूप जैनाचार्य-कवि शुष्क अध्यात्म के पोषक नहीं हैं। इसलिए जैन-रचनाकारों में केवल वैराग्यधारक मुनि-आचार्य ही नहीं हैं, गृहस्थ विद्वान् और भट्टारक भी हैं। ये रचनाकार व्यवसायी रचनाकार नहीं थे, जो राजवर्ग, धनिक वर्ग की सन्तुष्टि में लगे हों। इन्होंने जो कुछ लिखा वह स्वान्तःसुखाय ही लिखा, जिसमें स्वतः ही जनकल्याण निहित था। ऐसा करते हुए सहज ही उच्छृंखल वृत्ति, दम्भ और प्रदर्शन वृत्ति का शमन तो हुआ ही, परम्परा और मर्यादा के निर्वाह से पाठक-श्रोता वर्ग की अस्मिता जागृत बनी रहकर कल्याणोन्मुख रही।

रत्नाकर वर्णी इसी विचारमाला के पुष्प हैं। इनकी रचनाओं में तीन शतक—१. रत्नाकर शतक (अन्य नाम रत्नाकराधीश्वर शतक), २. अपराजित शतक, ३. त्रैलोक्येश्वर शतक प्रसिद्ध हैं। तीनों शतकों में १२८-१२८ श्लोक हैं। इनका वर्ण्य विषय है—अध्यात्म, नीति, वैराग्य, वेदान्त और त्रिलोक सम्बन्धी ज्ञान। अन्य रचनाएं हैं—१. भरतेश वैभव तथा २. सोमेश्वर शतक। 'भरतेश वैभव' में योगिराज चक्रवर्ती भरत का जीवनचरित गुम्फित है। इसमें वैराग्य के साथ श्रृंगार का समन्वय है। इसी रचना के आधार पर रत्नाकरवर्णी को 'श्रृंगार कवि राजहंस' भी कहा गया है। यह काव्य कन्नड़ भाषा के काव्यों में महत्त्वपूर्ण और महाकाव्य के गुणों से मंडित माना गया है। 'सोमेश्वर शतक' काव्य कवि की उस काल की रचना है जब उसने जैन मत छोड़कर शैवमत स्वीकार कर लिया था। इसमें भी तत्त्व चिन्तन तो जैन धर्मावलम्बी ही है, किन्तु यह शिव को सम्बोधित करके लिखा गया है। इसके प्रत्येक पद्य के अन्त में 'हरहरा सोमेश्वरा' पदांश जोड़ा गया है।

'रत्नाकर शतक' के वर्ण्य विषय के रूप में इसमें जैन तत्त्व ज्ञान का आधार लिया गया है। कवि का मन्तव्य है कि मनुष्य को वास्तविक शान्ति 'धर्म' पुरुषार्थ के सेवन द्वारा ही सम्भव है। 'अर्थ' और 'काम' पुरुषार्थ महत्त्वपूर्ण होते हुए भी आंशिक सुख दे पाते हैं। वास्तविक धर्म तो आत्म धर्म ही है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि 'रत्नाकर शतक' का वर्ण्य विषय वैराग्य, नीति और आत्मतत्त्व निरूपण है। दूसरे 'अपराजित शतक' में अध्यात्म और वेदान्त का विस्तार सहित प्रतिपादन है। तीसरे 'त्रैलोक्येश्वर शतक' में भोग और त्रैलोक्य के आकार-प्रकार और विस्तार का वर्णन है। प्रत्येक शतक में १२८ पद्य हैं। 'रत्नाकर शतक' की आचार्य देशभूषण जी द्वारा की गई व्याख्या को पढ़कर लगता है कि स्वयं कवि ने संसार, आत्मा और परमात्मा के त्रक् का अनुभव गहराई से किया है और उसी अनुभव को रचनाबद्ध किया है। इसके प्रत्येक पद्य में आत्मरस छलकता है। स्वयं देशभूषण जी का अभिमत है कि इस रचना पर समयसार, आत्मानुशासन और परमात्म प्रकाश की छाया स्पष्ट लक्षित है। किन्तु, इन रचनाओं के तत्त्व ज्ञान को कवि ने अपने अनुभव के सांचे में ढालकर नया नाम-रूप प्रदान किया है। स्वयं आचार्य जी के शब्दों में—"इस ग्रन्थ में अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार है। इसके अन्तः स्तल में प्रवेश करने पर प्रतीत होता है कि कवि ने वेदान्त और उपनिषदों का भी अध्ययन किया है और उस अध्ययन से प्राप्त ज्ञान का उपयोग, जैन मान्यताओं के अनुसार आठवें, नवें और दसवें पद्य में किया है। अकेले रत्नाकर शतक के अध्ययन से अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार ज्ञात होता है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैराग्य प्रतिपादक होते हुए भी 'रत्नाकर शतक' का अध्यात्मवाद निराशावाद से पुष्ट या प्रेरक नहीं है। इसमें संसार से घबड़ा कर उसे नश्वर या क्षणिक नहीं बताया गया। अपितु, वस्तुस्थिति का प्रतिपादन करते हुए आत्मस्वरूप का विवेचन किया गया है। संसार के मनोज्ञ पदार्थों का अन्तरंग एवं बहिरंग का साक्षात्कार कराते हुए उनकी वीभत्सता दिखाई है। कवि की मान्यता है कि मोह के कारण संसार के पदार्थ बाहर से सुन्दर दिखाई देते हैं। मोह के दूर होते ही इनका वास्तविक रूप सामने आ जाता है। अज्ञानी या मोहित व्यक्ति ही भ्रमवश रागी, द्वेषी, क्रोधी, लोभी, मायावी आदि बने रहकर अपने को सीमित-संकीर्ण किए रहते हैं। यद्यपि ये सारी स्थितियां मनुष्य की विभाव पर्यायी हैं, विकृतिजन्य हैं, प्रकृति जन्य नहीं। अतः 'रत्नाकर शतक' का अध्यात्म निराशावाद का पोषक न होकर, चेतना पर आवृत कृत्रिम आशा-निराशा को दूर कर आत्मा की सहज ज्योति को उद्भासित करता है।

रचना में संवाद-शैली का आश्रय लिया गया है। कवि रत्नाकराधीश्वर से जिनेन्द्र भगवान को सम्बोधन कराकर संसार, स्वार्थ, मोह, माया, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, घृणा आदि के कारण प्राणी की दुर्दशा का वर्णन करते हुए आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता बताता है। जीवन विशेषतः मनुष्य जीवन अनादि काल से रागद्वेषों के आधीन रहने के कारण उत्तरोत्तर कर्मार्जन करता रहा है। जब उसे 'रत्नत्रय' की अनुभूति-उपलब्धि हो जाती है, तभी वह कर्म सागर से सन्तरित हो पाता है। इस विचार को कवि ने सहज ढंग से प्रस्तुत किया है। लेकिन, तत्त्व ज्ञान जनित ऐसे गूढ़ विषय को भी कवि ने सम्बोधन-संवाद शैली में सरल-ग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया है। शब्द-विन्यास ने विषय की निगूढ़ता को अर्थ-बोध की सतह पर लाकर ग्राह्य बनाया है। कवि सर्वत्र इस बात के लिए जागरूक दिखाई देता है कि सहृदय मनुष्य की चित्तवृत्ति रस दशा की उस भावभूमि पर पहुंचने में आहत न होकर, आत्मा की परम तृप्ति में सहायक हो। कवि की शैलीगत मौलिकता यही है कि अनुवाद के माध्यम से भी पाठक-श्रोता रसास्वादन को अनुकूल पाते हैं। यद्यपि, संस्कृत में भर्तृहरि ने भी शतक त्रय की रचना की है, परन्तु उसमें संवाद शैली की ऐसी पीठिका नहीं है। इसमें तो भावधारा स्वाभाविक एवं निश्चित क्रम में प्रवाहित हुई है, जिसमें अन्विति सर्वत्र दृष्टव्य है। इसलिए मुक्तक काव्य होते हुए भी 'रत्नाकर शतक' में प्रस्तुत आत्मभावन ग्राह्य है। इसका कारण यह है कि कवि का लक्ष्य चेतना को चिरन्तन अक्षय सुख प्राप्ति कराना है। यह अक्षय सुख ही रत्नत्रय की उपलब्धि में सहायक होकर आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ वृत्ताकार बन जाता है। ऐसे सुख का अनुभव ज्ञानजन्य विवेक से, आत्मिक भेद-विज्ञान के द्वारा, शरीर और आत्मा के भेद के अनुभव के कारण जो शम-शान्त रस का भावन होता है, वह काव्यशास्त्रीय शान्तरस की सीमा में परिसीमित नहीं हो पाता।

'रत्नाकर शतक' की भाषा संस्कृत मिश्रित पुरातन कन्नड़ है। इसमें कुछ शब्द अपभ्रंश और प्राकृत के भी हैं। कवि ने इन शब्द रूपों को कन्नड़ की विभक्तियों को जोड़कर प्रयोगानुकूल बनाया है। संस्कृत शब्दों को कन्नड़ी जामा पहनाने में ध्वनि परिवर्तन के नियमों का पूरा उपयोग किया गया है। फिर भी, कृदन्त और तद्धित प्रत्यय प्रायः संस्कृत के ही हैं। इस प्रकार भाषा को परिमार्जित करने में अपने कवि-कौशल का उपयोग किया है। इस शतक की रचना मत्तेभ विक्रीड़ित और शार्दूल विक्रीड़ित छन्दों में हुई है। इसकी रचना-शैली प्रसाद और माधुर्य गुण सम्पन्न है। आचार्य देशभूषण जी ने इसके वर्ण्यविषय एवं शैली के सम्बन्ध में लिखा है—'रत्नाकर शतक के प्रत्येक पद्य में अंगूर के रस के समान मिठास विद्यमान है। इसमें शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। कवि ने आध्यात्मिक और नैतिक विचारों को लेकर फुटकर पद्य-रचना की है। वस्तुतः यह गेय काव्य है। इसके पद्य स्वतंत्र हैं, एक का सम्बन्ध दूसरे से नहीं है। संगीत की लय में आध्यात्मिक विचारों को नवीन ढंग से रखने का यह एक विचित्र क्रम है।' (—अभिमत, पृ० १२)

आचार्य देशभूषण जी द्वारा सम्पादित, अनुवादित एवं व्याख्यायित समीक्ष्य कृति 'रत्नाकर शतक' को पढ़कर यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि आपने राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत् योग प्रदान किया है। इसके प्रकाशन से जहां एक ओर तो कन्नड़ भाषा का प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत हुआ है, वहीं दूसरी ओर हिन्दी-भाषी जनता का आन्तरप्रान्तीय भाषा-प्रवेश हुआ है। इसके लिए कन्नड़ ही नहीं हिन्दी संसार आचार्यरत्न के प्रति कृतज्ञ है। राष्ट्रभाषा के राष्ट्रीय स्वरूप को पुष्ट एवं समृद्ध करने के लिए यह परमावश्यक है कि अनेकानेक भारतीय भाषाओं का श्रेष्ठ साहित्य हिन्दी में आए। और जब यह कार्य मनीषी चिन्तक आचार्य देशभूषण जी महाराज जैसे अध्यात्म एवं संस्कृति के स्तम्भ सम्पन्न करते हैं तो भाषा का गौरव और अधिक बढ़ जाता है। ऐसा कार्य भाषा ही नहीं, राष्ट्र को एकरसता में निमज्जित कराने का सुन्दर सुयोग भी प्रदान करता है। समीक्ष्य कृति के सम्पादन-टीका-व्याख्या के द्वारा एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी हुआ है कि जैन-वाङ्मय का प्रसार क्षेत्र व्यापक बना है। आचार्यरत्न ने अपने आध्यात्मिक सांस्कृतिक योगदान में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया है कि इन्होंने किसी भी भाषा विशेष की प्रभुसम्पन्नता जनित दासता को स्वीकार नहीं किया। देशभूषण जी ने कन्नड़ भाषी होते हुए भी अपने उपदेश की भाषा हिन्दी ही बनायी है। आपका उद्देश्य रहा है कि जनता की भाषा में ऋषि-मुनि परम्परा के ज्ञानानुभव को जनता तक पहुंचाना। यद्यपि, जैन परम्परा में यह मान्यता है कि 'दिव्य ध्वनि' अर्धमागधी में प्रकट हुई थी। यह ध्वनि-भाषा निरक्षरी मानी गई है, जिसे देव, मनुष्य एवं तिर्यंच योनि के प्राणी अपनी भाषा में समझ लेते हैं। अतः वैखरी भाषा तो मात्र भाव-विचारों की वाहिका है। पूर्व जैन साहित्यकारों ने साहित्य-निर्माण के लिए यह निष्कर्ष दिया है कि तीर्थंकरों के उपदेश सभी लोगों के पास उनकी ही भाषा में पहुंचने चाहिए। और ऐसा करने से स्वयं ही भाषा-दासता अतिक्रमित होती रहती है। शायद इसीलिए संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के समान ही,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दी भाषा के आद्य रचनाकार जैन ही थे। हिन्दी के आदि कवि चतुर्मुख, स्वयंभू तथा रयधू माने जाते हैं, जो कि जैन मतावलम्बी थे। कन्नड़ भाषा की सम्पन्नता तो जैन-साहित्यकारों पर ही निर्भर है।

उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने साहित्य को सर्वजन सुलभ बनाने के लक्ष्य को सामने रखा। इसी लिए आपकी सभी प्रमुख रचनाएँ हिन्दी में हैं। कानड़ी भाषा के ग्रन्थरत्नों को आपने हिन्दीभाषी जनता के लिए सुलभ बनाया है। 'रत्नाकर शतक' के समान ही आपने 'निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति', 'अपराजितेश्वर शतक', 'भरतेश वैभव, 'भावना सार', 'धर्मामृत', 'योगामृत', 'निरंजन स्तुति' आदि कानड़ी ग्रन्थों की हिन्दी-टीका की है। इस प्रकार दो भाषाभाषियों को ही नहीं, दो क्षेत्र-विशेष के वैचारिक आदान-प्रदान के मार्ग को उदारता से उद्घाटित किया है। इसके लिए हिन्दी संसार ही नहीं, समस्त राष्ट्र आपका ऋणी है।

'रत्नाकर शतक' का प्रथम संस्करण 'स्याद्वाद प्रकाशन मंदिर' आरा से वीर संवत् २४७६ में प्रकाशित हुआ था। इस संस्करण के दोनों भागों की पृष्ठ संख्या २४० + २७१ = ५११ पृष्ठ थी। उस समय इसका सम्पादन श्री शान्तिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित 'रत्नाकर शतक' के आधार पर किया गया था। तब यह प्रथम भाग में ५० पद्य एवं द्वितीय भाग में ७८ पद्यों की व्याख्या में विभाजित था। पाठकों की रुचि के कारण प्रथम संस्करण शीघ्र समाप्त हो गया। 'रत्नाकर शतक' का प्रस्तुत द्वितीय संस्करण प्रथम संस्करण की पुनरावृत्ति मात्र नहीं है। आचार्य देशभूषण जी ने बड़े परिश्रम से इस द्वितीय संस्करण का वीर संवत् २४८९ में दिल्ली चातुर्मास के समय पुनरुद्धार किया है और तब इसके दोनों खण्डों की श्लोक संख्या में ६३ पद्य एवं ६५ पद्यों के विभाजन के साथ ही व्याख्या-विस्तार होने से २१८ पृष्ठ की सामग्री अभिवृद्ध हुई। इसका मुख्य कारण व्याख्याकार द्वारा विषय को अधिक बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से विचार-विस्तार प्रदान करना है। ऐसा करते हुए आचार्य श्री ने अनेकों उद्धरण देकर विषय को बहुत अधिक स्पष्टता प्रदान की है। इस व्याख्या को पढ़कर लगता है कि आचार्य श्री का शास्त्र-परम्परा-सम्मत ज्ञान असीमित है। गुरु गम्भीर विचारों को भी सरल-सहज भाषा में हृदयग्राही बनाने की आप में अपूर्व क्षमता है। प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में 'अभिमत' शीर्षक के अन्तर्गत आपने ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं जैन-रचनाकार-परम्परा के सम्बन्ध में बहुमूल्य वस्तुपरक जानकारी भी दी है, जो हिन्दी-पाठकों के लिए महत्त्वपूर्ण है। अतः कहा जा सकता है कि 'रत्नाकर शतक' आज आचार्य देशभूषण जी के सारस्वत प्रयत्न से कन्नड़ भाषा का सरस एवं उपदेश ग्रंथ ही न होकर हिन्दी भाषा की आंतरप्रान्तीय योगदान की राष्ट्रीय निधि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org